

संवादक्रम में इस बार दो टिप्पणियां दी जा रहीं हैं और दोनों अलग तरह की हैं। पहली टिप्पणी शिक्षकों के प्रति कुछ ज्यादा ही तीखी है। हालांकि इस बात में तो सच्चाई है कि शिक्षक ऐसी मानसिकता के शिकार हैं। किन्तु संदीप खरे इस मानसिकता के कारणों की पड़ताल में गहरे नहीं जाते। शिक्षक की इस मानसिकता के निर्माण के लिए, इसे बनाये रखने के लिए एवं पूरी शिक्षा को इस कदर बांध देने के लिए जिम्मेदार कौन हैं - शिक्षक ? प्रशिक्षक ? नये वृहद कार्यक्रमों की तोता रटंत कार्यशालायें ? शिक्षा प्रशासक ? कौन ? दूसरी टिप्पणी प्राथमिक शिक्षा में खेलों का महत्व प्रतिपादित करती है। इस क्रम को हम आगे बढ़ाना चाहेंगे।

मानसिकता में बैठा गुलामी का कीड़ा

□ संदीप खरे

पिछले कुछ वर्षों से लगातार मुझे शिक्षकों व समाज के अन्य तबकों को प्रशिक्षण देने का मौका प्राप्त हो रहा है तथा प्राथमिक शिक्षा से संबंधित होने के कारण विभिन्न परियोजनाओं के अन्तर्गत शिक्षकों के जीवन को नजदीक से देखने व समझने का मौका मिला है। शिक्षकों को प्रशिक्षण देते समय हमेशा यह सवाल उठा है कि कार्यशाला का प्रारंभ प्रार्थना से हो। अक्सर हम जैसे लोग प्रशिक्षण की शुरूआत प्रतिभागियों के स्वागत से या आन्दोलन के किसी गीत से प्रारंभ कर देते हैं। शिक्षकों के अतिरिक्त किसी भी प्रशिक्षण में मुझे रोककर यह नहीं कहा गया कि “प्रार्थना से शुरू करें।” क्या हमने कभी सोचा है कि शिक्षक ही हमेशा प्रार्थना से शुरू करने की बात क्यों करते हैं ? यह जानने के लिए हम सबको उनकी दैनिक दिनचर्या को समझना बहुत जरूरी है। शासनदेशों की डोर में बंधा अच्छा भला शिक्षक भी विद्यालय प्रांगण में पैर रखते ही किसी मशीनी मानव की भांति प्रार्थना के लिए बच्चों की लाइन लगवाने लगता है। आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि शाला की शुरूआत प्रार्थना से न हुई हो। हां, यह बात और है कि आजादी के बाद से हमारे विद्यालयों की प्रार्थना में बदलाव कई बार आया। लेकिन प्रार्थना हमेशा हमारी शालाओं का अभिन्न अंग बनी रही। और इसी जड़ता से हमारे शिक्षक साथी सीखने-सिखाने की उस कार्यशाला में भी उबर नहीं पाते। जिस शिक्षक से हम नवाचार की उम्मीद करते हैं उसने अपने प्रशिक्षण के दौरान शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांतों को रट तो लिया है, लेकिन पचा नहीं पाया है। इसीलिए शाला के अन्दर प्रयोगों से कतराता है। शिक्षा प्रयोगों को जन्म देती है। नवाचार के लिए प्रेरित करती है। लेकिन हमारे देश की यह बिडम्बना है कि आजादी के बाद की पौध ने शिक्षा का अर्थ मात्र पोथियों में लाल-पीली स्याही से छपे

अक्षरों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझा। शिक्षा ने व्यावहारिक जिन्दगी की जरूरतों से कोसों दूर एक ऐसा संसार बुना है जहां पर या तो राजा रानी की कथायें रह सकती हैं या फिर कम्प्यूटर, इन्सान नहीं। कम्प्यूटर हमेशा प्रोग्रामों पर निर्भर रहते हैं और हमारे शिक्षकों के दिमाग में भी कम्प्यूटर के प्रोग्रामों की तरह ही कोई प्रोग्राम प्रशिक्षण के दौरान फिट कर दिया जाता है, जोकि उनके दिमाग के किवाड़ों को आहिस्ता-आहिस्ता बन्द कर देता है और उसी बंद जंग खाये दिमागों के साथ वह नवाचार करते हैं। नवाचार की बात पर मुझे एक ऐसे कार्यक्रम का हस्र याद आ गया जो सिद्धांतों एवं विधियों के आधार पर आज भी अभिनवी है। जिसे आप सभी के साथ बांटने की अपनी इच्छा पर मैं लगाम नहीं लगा पा रहा हूं।

अभी कुछ दिनों पहले एक कार्यक्रम शुरू हुआ। कार्यक्रम का नाम था “सुरुचिपूर्ण शिक्षा।” इस कार्यक्रम के तहत पूरे प्रदेश के शिक्षकों का प्रशिक्षण खूब धूम-धाम से किया गया और शासन के पांवों तले बैठने वाले प्रशासन ने यह समझ लिया कि अब हर शिक्षक सुरुचिपूर्ण तरीके से बच्चों को पढ़ा रहा है। एक दिन मैं एक स्कूल गया हुआ था। शिक्षक साथी क्लास लेने के लिए जा रहे थे, जैसे ही वह क्लास के लिए घुसे, सभी बच्चे खड़े हो गये और गीत गाने लगे -

लो वसन्त आया फूल खिले-फूल खिले।

मास्टर जी आये, फूल खिले, फूल खिले ॥

मास्टर जी ने अपना स्वागत स्वीकार किया और श्यामपट साफ करते हुए उस पर दिनांक एवं विषय लिखकर बच्चों की तरफ मुखातिब होकर कहने लगे “चलो अब गीत गा चुके”, किताबें निकालो और पाठ पढ़ो। एक बच्चा किताब लेकर आगे आया और

जोर-जोर से पढ़ने लगा। बाकी बच्चे उसका अनुसरण करने लगे। तब तक मास्टर जी धूप में आकर अपने दूसरे साथी से बिटिया के ब्याह की चर्चा करने लगे। बस हो गया नवाचार!

आज मुख्य समस्या नवाचारों की नहीं, नवाचारों के लिए न तैयार दिमागों की है। जिसके चलते हम सबके दिमाग पूरी तरह से मानसिक गुलामी में जकड़े हैं। इसलिए वह प्रशिक्षण के दौरान भी इस मानसिकता से उबर नहीं पाते कि कार्य का शुभारंभ प्रार्थना से हो, चाहे वह प्रशिक्षण शिक्षकों के नेताओं का ही क्यों न हो। यहां विशेष तौर पर नेताओं के प्रशिक्षण की बात इसलिए कर रहा हूं क्योंकि राजनीतिक विचारधाराओं से लैस शिक्षकों के नेता भी उसी मानसिकता में जीते हैं जिसमें कि एक आम शिक्षक, जब कि कहा जाता है कि राजनीति हमेशा प्रयोगधर्मी होती है।

इसी तरह की कुछ और बातें शिक्षकों के साथ कार्य करते हुए देखने को मिलती है, जो अन्यत्र आपको कहीं नहीं मिल सकती। शिक्षक से जब कभी आप बच्चों के संबंध में बात करें तो पायेंगे, वह हमेशा इस बात की शिकायत करेगा कि बच्चे अनुशासित नहीं हैं। हमेशा बातें करते रहते हैं, चाहे जितनी अच्छी बात करो, सुनते ही नहीं। हालांकि मैं ऐसे अनुशासन के बिल्कुल खिलाफ हूं जो दबाव या भय से पैदा किया जाये। लेकिन, फिर भी, वही शिक्षक यदि जब प्रशिक्षण या मीटिंगों में होते हैं तो खुद वही कार्य करते हैं जिनको लेकर वह परेशान रहते हैं, और रोना रोते हैं। मुझे यह बात समझने में बहुत देर लगी कि आखिर कारण क्या है। लेकिन गहराई से देखने पर पता चला कि हमारी शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत नैतिक शिक्षा की बात तो होती है, लेकिन परीक्षा में पास होने के लिए, व्यवहार में उतारने के लिए नहीं। फिर हम बच्चों या शिक्षकों से उम्मीद क्यों करते हैं कि उनके अन्दर आत्मानुशासन पैदा हो। वह गुलामी की मानसिकता से उबर कर प्रयोगधर्मी बनें।

वर्तमान शिक्षा के वाहक हमारे शिक्षकों के दिमागों को हमारी शिक्षा व्यवस्था ने इस तरह से व्यवस्थित कर दिया है कि उसे इस बात से कभी नाराजगी ही नहीं होती कि उनका बच्चा/बच्ची खुले आसमां के नीचे शाला के बगल में ही मूत्र विसर्जन करता है, पानी के लिए दूर तलक जाता है और लटकती हुयी छतों,

गन्दगी व सीलन से भरे कमरों में बैठ कर पढ़ता है। वह हर उस सफेदपोश के आगे नतमस्तक है जो उन्हें अपने से ऊपर दिखता प्रतीत होता है। उन्हें यह अहसास ही नहीं रह गया कि इन्सान या बेईमान बनाने की जिम्मेदारी उन्हीं की है। उनके दिमागों में कहीं भी प्रयोगों के लिए जगह नहीं है। स्कूल में घुसने से लेकर स्कूल से निकलने तक वे सभी नियम, कायदे कानून पहले से ही तय हैं, जिनसे वे कभी यदा-कदा मौका मिलने पर भी उबर नहीं पाते और उन्हीं कार्यों को करते हैं, जिनका कार्यक्रम उनके दिमागों में फिट किया गया है। यदि कभी कोई घटना उनके कार्यक्रम से मेल नहीं खाती तो उन्हें अजूबा जैसी लगती है। नौकरी की मजबूरी के चलते वे बच्चों की तरह उनके सिद्धांतों एवं गतिविधियों को रट तो लेते हैं लेकिन स्वीकार कभी नहीं कर पाते। और किसी भी प्रशिक्षण या अपने नीति निर्धारकों के सामने अवसर पड़ने पर बयां कर देते हैं जिसके कि वे अभ्यस्त हो चुके हैं और नन्हें मुन्नों को भी अभ्यस्त बना रहे हैं। उनको तो एक ऐसा बालक चाहिए जो तोते की तरह रट ले और जब कभी कहा जाये तो उसे दुहरा दे। इसलिए शायद खुद भी अक्सर वे तोतों की तरह का बर्ताव करते हैं।

हमारे शिक्षक साथी हमें क्षमा करें, इस तरह की बातें करने के लिए। लेकिन उन्हें कभी एकान्त के क्षणों में अपने आप से यह सवाल अवश्य करना चाहिये कि वह इन्सान से मशीनी मानव तो नहीं बन गये हैं बच्चों से उलूल-जुलूल उम्मीदें करते हैं और रोल परिवर्तित होने पर खुद भी वैसे ही बर्ताव करते हैं। मेरा मानना है कि हमारे शिक्षक साथियों की मानसिकता अभी पूरी तरह प्रौढ़ नहीं हुई है। जरूरत है आखों पर चढ़े गुलामी का चश्मा उतार फेंकने की। दिवस, घण्टों, पाठ्यक्रमों, प्रशिक्षणों और परीक्षाओं में बंधी शिक्षा और उससे जुड़ी गतिविधियों को त्याग फेंकने की। आज शिक्षा के सही अर्थ पहचानने की जरूरत है। शिक्षकों की समाज के निर्माण में जो महती भूमिकाएं है उसकी पहचान कर लें, प्रार्थना, पाठ्यक्रम परीक्षाओं की बेड़ियों से मुक्ति पा लें तो वह दिन दूर नहीं जब शिक्षा नित नये-नये प्रयोगों को जन्म देगी ओर तोतों की जगह इन्सान पैदा करेगी जो आपस में एक-दूसरे के साथ प्रेम व सौहार्द पूर्ण बर्ताव करेंगे तथा उन लाखों करोड़ों बच्चों को शिक्षा की अमृतमयी वाणी से सिंचित करेंगे जो हजारों साल से प्यासे हैं।